आदिवासी कला का पुनरुत्थान

भारतीय आदिवासी कला के इतिहास में सन् 1980 का दशक सदैव याद किया जाएगा, क्योंकि इस समय मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में भारत भवन की स्थापना हुई और भारतीय आदिवासी कला का तो जैसे पुनरुत्थान काल आरंभ हुआ। उस समय तक लोग आदिवासी चित्रकला के नाम पर महाराष्ट्र के वारली, मध्य प्रदेश के भील, गुजरात के राठवा और ओडिशा के सौंरा आदिवासियों के चित्र ही जानते थे। इनमें भी वारली आदिवासियों के चित्र प्रसिद्धि के शिखर पर थे।

मुश्ताक खान
लेखक, नई दिल्ली

कलाकारों की खोज का अभियान

भारत भवन की स्थापना के साथ ही प्रसिद्ध चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन के नेतृत्व में मध्य प्रदेश के विभिन्न आदिवासी समुदायों की कला परंपराओं और प्रतिभाशाली कलाकारों की खोज का एक सुविचारित अभियान आरंभ हुआ। इसका केंद्रबिंदु आदिवासी मानस की सृजन क्षमता की पहचान, परख और उसे पल्लवित होने के अवसर प्रदान करना था। परिणाम स्वरूप मध्य प्रदेश की परधान, गोंड, बैगा , मुरिया, भील, भिलाला, कोरवा, नगेसिया, बादी, कोरकू , भारिया, ओरांव जैसे अनेक आदिवासी समुदायों के कलाकार सामने आए। इनके साथ ही अनेक पिछड़े समुदायों के लोक कलाकारों को भी पहचान मिली। इस आभियान का फोकस समुदाय से अधिक व्यक्तिगत सृजनशीलता और संभावनाओं पर था। अत : किसी कलाकार के व्यक्तिगत सृजन को भी उसकी समूचि समुदायिक कला चेतना की अभिव्यक्ति का परिणाम मान लिया गया। यह स्थिति प्रधान-गोंड चित्रकार जनगढ़ सिंह श्याम के साथ रही और यही स्थिति बस्तर के मुरिया चित्रकार बेलगूर तथा झाबुआ की भील चित्रकार भूरी बाई और लड़ो बाई के साथ रही। उनकी व्यक्तिगत चित्रकारी क्षमताएं ही उनके समुदाय की प्रतिनिधि चित्रकला समझी जाने लगीं। यहां यह बता दूं कि मैं व्यक्तिगत तौर पर भारत भवन, भोपाल के इस अभियान का अंग रहा हूं और यह सब कुछ मेरी आंखों के सामने हो रहा था।

बैगा जनजाति में विकसित होती कला

भोपाल में स्वामीनाथन के प्रयोगों की सफलता से प्रेरित और उत्साहित होकर अन्य स्थानों पर अन्य अनेक कलाकारों एवं कला संस्थाओं ने इसी प्रकार के प्रयोग करना आरंभ किए। कुछ प्रयोग सफल भी हुए और कुछ आगे नहीं बढ़ सके। सन् 1985 के दौरान गुजरात के अहमदाबाद में ख्यातिप्राप्त चित्रकार हाकु भाई शाह ने गणेश जोगी और

उनकी पत्नी तेजल बेन के साथ ऐसा ही प्रयोग आरंभ किया और उनसे चित्र बनवाना आरंभ किया। गणेश जोगी मूलतः राजस्थान की घुमक्कड़ जोगी समुदाय से थे, जो गांव-गांव घूमकर भजन और लोक कथाएं गाते हैं। उस समय राजस्थान में सूखा पड़ा था और गणेश का परिवार मजदूरी की तलाश में अहमदाबाद आया था। वे और उनकी पत्नी सड़क किनारे गड्ढे खोदने का काम कर रहे थे, जहां से हाकु शाह उन्हें लाए थे। हाकु शाह का प्रयोग सफल रहा गणेश और तेजल दोनों ही प्रतिभा संपन्न निकले और उन्होंने लोक चित्रकला की एक नई जोगी चित्रशैली को जन्म दिया। बाद में भारत सरकार ने गणेश जोगी को जोगी चित्रकला में उनके योगदान के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया। वर्तमान में उनके कुटुंब के लगभग 15-20 सदस्य चित्रकारी कर रहे हैं और जोगी लोकचित्र, कला जगत में अपनी पहचान बना चुकी हैं। ऐसा ही एक अन्य प्रयोग आशीष स्वामी नाम के एक युवा चित्रकार ने मध्य प्रदेश के उमरिया क्षेत्र के बैगा आदिवासियों के गांव में आरंभ किया। आशीष भोपाल के भारत भवन से भी जुड़ा हुआ था और स्वामीनाथन जी से बहुत प्रभावित था। वह अपने व्यक्तिगत प्रयासों से बैगा आदिवासियों के लोढ़ा गांव में रहकर उन्हें कलाकर्म के लिए प्रेरित करने लगा। बैगा लोगों की अपनी पारंपरिक भित्ति अलंकरण और मिट्टी के काम तथा लकड़ी के मुखौटे बनाने की एक सीमित परंपरा थी। आशीष ने उन्हें कागज और रंग-ब्रश देकर चित्र बनाने के लिए उत्साहित किया। अंततः एक साठ वर्षीय बैगा महिला जुधैया बाई ने उसकी पहल को स्वीकार किया और अपनी व्यक्तिगत कला प्रतिभा के बल पर कुछ ही वर्षों में वे एक सफल बैगा चित्रकार के रूप में स्थपित हो गईं। जुधैया बाई को भारत सरकार ने पद्मश्री से सम्मानित किया और एक नई बैगा चित्रकला विश्व में विख्यात हो गई। वर्तमान में यह कला आसपास के कुछ गांवों के अनेक बैगा स्त्री-पुरुष कर रहे हैं।

तेलंगना सरकार खरीदती है चित्र

राजस्थानी भील मांडना चित्रों का व्यवसायीकरण भी आरंभ किया गया था। सन् 1984 में जब उदयपुर के जनजातीय अनुसंधान संस्थान के सांस्कृतिक अधिकारियों को इस क्षेत्र में भेजा गया, तो उन्होंने गोमा परगी और फूला परगी नामक दो युवा भील कलाकारों को अपने पारंपरिक भित्तिचित्र मांडनो को कागज और कैनवास पर चित्रित करने के लिए प्रोत्साहित किया था। उन दोनों चित्रकारों ने इन सामग्रियों का उपयोग करते हुए चित्रकारी की परंपरा को आगे बढ़ाया। परंतु इन चित्रकारों को आशातीत सफलता नहीं मिल सकी। संभवतः यह चित्रकार उतने प्रतिभशाली नहीं थे कि पारंपरिक चित्रों को एक नई ऊंचाई तक ले जा सकें।

वर्तमान में लगभग दस-पंद्रह भील चित्रकार इससे अपनी आजीविका कमा रहे हैं। इस समय यशपाल बरंडा प्रसिद्ध राजस्थानी भील चित्रकार हैं, वे उदयपुर जिले की नयागांव तहसील के कनबई गांव के रहने वाले हैं। बाद में दक्षिण भारत में भी इस प्रकार के प्रयास हुए। सन् 2016 में तेलंगाना के भद्राचलम स्थित इंटीग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेंट एजेंसी ने हैदराबाद स्थित नेहरू सेंटिनरी म्यूजियम के साथ मिलकर, कोया आदिवासियों के लिए जनजातीय चित्रकारी का एक ट्रेनिंग कार्यक्रम चलाया, जिसके अंतर्गत बीस कोया आदिवासी युवक-युवतियों को चित्रकारी की ट्रेनिंग दी गई। एक सप्ताह की इस ट्रेनिंग को वर्ष में तीन बार आयोजित किया गया। इसके परिणामस्वरूप कोया आदिवासी चित्रकला का उदय हुआ। इस ट्रेनिंग कार्यक्रम के मुखिया नेहरु सेंटिनरी म्यूजियम के क्यूरेटर डॉ. सत्यनारायण थे तथा चित्रकारी सिखाने के लिए

कला महाविद्यालय के शिक्षकों को लाया गया था। उन्होंने निश्चित किया कि चित्र केवल गेरू मिट्टी के लाल और सफेद मिट्टी के रंग से बनाए जाएंगे, जिनका प्रयोग कोया आदिवासी पहले से अपने घर पोतने के लिए करते रहे हैं। चित्रों के विषय भी कोया दैनिक जीवन की गतिविधियों से लिए गए। इनमें गौर सींघ नृत्य तथा सर पर लकड़ी का गट्ठर ले जाती महिला प्रमुख हैं। इस कार्यक्रम को स्वरोजगार योजना से भी जोड़ा गया है। अतः इन प्रशिक्षित चित्रकारों के बनाए चित्र प्रतिमाह राज्य सरकार खरीद लेती है। वर्तमान में कुछ कोया आदिवासी चित्रकार सक्रिय हैं।

भारतीय कला के उन्नयन में योगदान

दक्षिण भारत में अनेक आदिवासी समुदाय निवास करते हैं, लेकिन उनकी चित्रकला के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। सन् 2022 में तमिलनाडु के नीलगिरी क्षेत्र में रहने वाले कुरुंबा आदिवासियों द्वारा पूजा अनुष्ठानों के लिए बनाए जाने वाले भित्तिचित्रों के बारे में चेन्नई की एक संस्था सी .पी . रामास्वामी अय्यर फाउंडेशन को पता लगा और उन्होंने कुछ कुरुंबा चित्रकारों को कागज पर इन चित्रों को बनाने के लिए प्रेरित किया। इसका परिणाम बहुत उत्साहजनक रहा। बाला सुब्रमण्यन और कृष्णन नामक दो कुरुंबा आदिवासी चित्रकारों का आदिवासी कला जगत में उदय हुआ। चेन्नई स्थित दक्षिण चित्र संग्रहालय ने इन कुरुंबा चित्रकारों को अपने कार्यक्रमों में आमंत्रित किया और इस प्रकार दक्षिण भारत की पहली आदिवासी चित्रकला से कला प्रेमियों का परिचय हुआ। इस प्रकार सन् 1982 में कला चिंतक और चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन द्वारा भारत भवन, भोपाल के माध्यम से आरंभ किए गए, आदिवासी कला की विभिन्न परंपराओं के पुनरुत्थान के अभियान के परिणामस्वरूप भारत के अनेक आदिवासी समुदायों के चित्रकार प्रकाश में आ सके और वे अब भारतीय कला के उन्नयन में अपना योगदान दे रहे हैं।

लोकायन

परंपरा, वीरता और उत्सव की जीवंत अभिव्यक्ति

नागालैंड के लोक नृत्य वहां की सांस्कृतिक पहचान का जीवंत और आकर्षक रूप हैं। ये नृत्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक परंपराओं, धार्मिक आस्थाओं और सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति भी हैं। आमतौर पर ये नृत्य त्योहारों, धार्मिक अनुष्ठानों और विशेष अवसरों पर समूहों में प्रस्तुत किए जाते हैं। नागा समाज में पुरुषों का युद्ध नृत्य विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जो साहस, शक्ति और वीरता का प्रतीक माना जाता है। इस नृत्य की शैली में मार्शल आर्ट जैसी ऊर्जा और एथलेटिक गति देखने को मिलती है, जिसमें नर्तक युद्ध-घोष और गीतों के साथ प्रदर्शन करते हैं।

नागालैंड की विभिन्न जनजातियों के अपने-अपने पारंपरिक नृत्य हैं, जिनमें कुछ समानताएं भी देखने को मिलती हैं। अधिकतर नृत्यों में शरीर को सीधा रखते हुए पैरों की लयबद्ध गतिविधि प्रमुख होती है। फसल कटाई के समय किए जाने वाले नृत्य विशेष रूप से उल्लासपूर्ण होते हैं, जिनमें समुदाय के लोग मिलकर अपनी खुशियों का इजहार करते हैं।

जेलियांग जनजाति का नृत्य इस दृष्टि से विशिष्ट है कि इसमें महिलाएं भी पुरुषों के साथ सक्रिय भागीदारी करती हैं। नृत्य की शुरुआत में प्रतिभागी धीमी गति से मंच पर प्रवेश करते हैं और फिर वृत्त या अन्य आकृतियां बनाते हुए लय में बंध जाते हैं। इसके बाद पैर पटकते हुए तालमेल के साथ नृत्य शुरू होता है। समूह में गाए जाने वाले शब्द, तालियां और सामूहिक स्वर इस नृत्य को एकजुटता और उत्साह से भर देते हैं। कई बार नर्तक काल्पनिक शत्रु पर आक्रमण का दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जिसमें हाथों में लिए गए हथियारों को लयबद्ध ढंग से घुमाया जाता है। जेमी जनजाति के नृत्य भी अपनी विविधता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन नृत्यों के नाम अक्सर पक्षियों, जानवरों या कीड़ों की चाल-ढाल से प्रेरित होते हैं, जैसे मुर्गा नृत्य या क्रिकेट नृत्य। कुछ नृत्य केवल पुरुषों द्वारा किए जाते हैं और इनमें गीत-संगीत का साथ होता है, जिसमें झांझ जैसी वाद्य ध्वनियां भी शामिल होती हैं। नागालैंड के विभिन्न उत्सवों, विशेषकर फसल और सांस्कृतिक पर्वों के दौरान, ये नृत्य पूरे उत्साह के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं। पारंपरिक वेशभूषा, आभूषण और सामूहिक भागीदारी इन प्रस्तुतियों को और भी आकर्षक बनाते हैं। इस प्रकार, नागालैंड के लोक नृत्य वहां की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और सामुदायिक जीवन की गहराई को दर्शाते हैं।

अनोखी परंपरा

प्रकृति और परंपरा का संगम मेंढकों की शादी

भारत की विविध लोक परंपराओं में कई ऐसे अनोखे रीति-रिवाज देखने को मिलते हैं, जो पहली नजर में आश्चर्यचकित कर देते हैं, लेकिन उनके पीछे गहरी आस्था और प्रकृति से जुड़ा सांस्कृतिक संबंध होता है। पेड़ों की शादी की परंपरा के बारे में तो आपने सुना ही होगा, लेकिन मेंढक और मेंढकी की शादी भी भारत के कुछ हिस्सों में विशेष महत्व रखती है। विशेष रूप से असम के जोरहाट जिले और अन्य पूर्वोत्तर क्षेत्रों के गांवों में यह परंपरा प्रचलित है। यहां के लोगों का मानना है कि जब लंबे समय तक वर्षा नहीं होती और सूखे जैसी स्थिति बन जाती है, तब मेंढकों की शादी कराने से वर्षा देवता प्रसन्न होते हैं और अच्छी बारिश होती है। यह मान्यता प्राचीन समय से चली आ रही है और आज भी लोग इसे पूरी श्रद्धा और उत्साह के साथ निभाते हैं।

इस अनोखी शादी में सभी पारंपरिक हिंदू विवाह रीति-रिवाजों का पालन किया जाता है। सबसे पहले गांव के लोग एक नर और एक मादा मेंढक को पकड़ते हैं। इसके बाद उन्हें स्नान कराया जाता है और हल्दी लगाई जाती है। फिर छोटे-छोटे कपड़े या फूलों से उन्हें सजाया जाता है। शादी के लिए मंडप बनाया जाता है और बाकायदा एक पुजारी को बुलाया जाता है, जो मंत्रोच्चार के साथ विवाह संपन्न कराता है। विवाह के दौरान 'बारात' भी निकलती है, जिसमें गांव के लोग गीत गाते और नाचते हुए शामिल होते हैं। इस परंपरा का एक वैज्ञानिक पहलू भी माना जाता है। मेंढक आमतौर पर बारिश के मौसम में अधिक सक्रिय होते हैं और उनकी टर्र-टर्र की आवाज वर्षा के आगमन का संकेत मानी जाती है। इसलिए यह विवाह एक प्रतीकात्मक प्रयास भी हो सकता है, जिससे लोग मानसून के प्रति अपनी आशा और विश्वास व्यक्त करते हैं।

केवल असम ही नहीं, बल्कि मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में भी इस तरह की परंपराएं देखने को मिलती हैं। कहीं-कहीं इसे 'मेंढक विवाह' के रूप में त्योहार की तरह मनाया जाता है, जिसमें पूरे गांव की भागीदारी होती है। हालांकि आधुनिक विज्ञान इन मान्यताओं को अंधविश्वास मान सकता है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से यह परंपरा लोगों को एकजुट करती है और संकट के समय सामूहिक आशा और सकारात्मकता का संचार करती है। इस तरह की लोक परंपराएं भारत की सांस्कृतिक विविधता और प्रकृति के साथ उसके गहरे संबंध को दर्शाती हैं।

सिनाई की 5000 वर्ष पुरानी शिलाकृति सत्ता, हिंसा और इतिहास का दृश्य दस्तावेज

सामान्यत : कला और साहित्य को प्रेम, सौंदर्य और शांति के वाहक के रूप में देखा जाता है, किंतु मानव इतिहास का यथार्थ इससे कहीं अधिक जटिल रहा है। विश्व की विभिन्न कला परंपराओं-चाहे वह भारतीय लघुचित्र हों या पाश्चात्य आधुनिक चित्रकला में, युद्ध, विजय और सत्ता-संघर्ष के दृश्य बार-बार उभरते हैं। भारतीय संदर्भ में मुगल और राजपूत शैली के लघुचित्रों में युद्ध और विजय के प्रसंग मिलते हैं, जबकि पश्चिम में द्वितीय विश्वयुद्ध से प्रेरित अनेक कलाकृतियां निर्मित हुईं। स्पष्ट है कि विजेताओं की गाथाओं के साथ-साथ उनके दृश्यांकन की परंपरा भी उतनी ही पुरानी है। इसी परिप्रेक्ष्य में मिस्र के सिनाई प्रायद्वीप से प्राप्त लगभग 5000 वर्ष पुरानी एक शिलाकृति (पेट्रोग्लिफ) ने पुरातत्वविदों का विशेष ध्यान आकर्षित किया है।

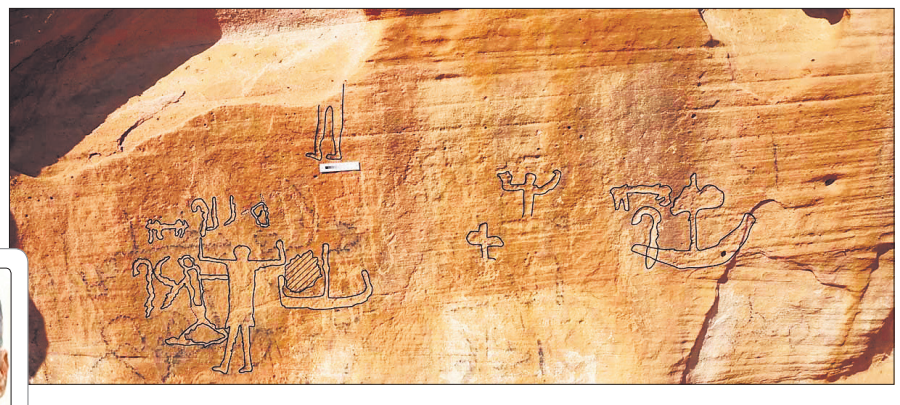

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

जर्मनी के बॉन से प्राप्त जानकारी के अनुसार, वादी खामिला क्षेत्र में शैल-कला के एक सर्वेक्षण के दौरान मिस्र के पुरातत्वविद मुस्तफा नूर एल-दीन और बॉन विश्वविद्यालय के विद्वान लुडविग मोरेन्ज ने इस महत्वपूर्ण खोज को सामने रखा। यह शिलाकृति प्रारंभिक मिस्री राजवंशीय काल से जुड़ी मानी जा रही है और इसमें दक्षिणी सिनाई क्षेत्र पर एक प्रारंभिक फराओ की विजय का दृश्य अंकित है।

इस उत्कीर्णन में एक व्यक्ति को लंगोटी पहने खड़े हुए दर्शाया गया है, जिसके हाथ ऊपर उठे हैं मानो वह विजय या शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो। उसके सामने एक अन्य आकृति घुटनों के बल बैठी है, जिसके हाथ बंधे हुए हैं और उसके सीने में एक तीर धंसा हुआ दिखाई देता है। यह दृश्य केवल एक सामान्य चित्रण नहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से हिंसा, दमन और सत्ता-प्रदर्शन का प्रतीक है। यही कारण है कि विद्वानों ने इसे 'क्रूर कथा' के रूप में अभिहित किया है। शैलीगत दृष्टि से यह चित्रण मिस्र के प्रथम राजवंश से जुड़े अन्य स्थलों विशेषतः नूबिया क्षेत्र में स्थित गेबेल शेख सुलेमान पर प्राप्त चित्रों से साम्य रखता है। इससे यह संकेत मिलता है कि उस समय मिस्रवासी अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रहे थे और सिनाई जैसे क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। इस क्षेत्र का महत्व विशेष रूप से वहां उपलब्ध खनिज संसाधनों- जैसे तांबा और फिरोजा के कारण था।

इस शिलाकृति के साथ एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसका अनुवाद "देवता मिन, तांबे की खान/खनन क्षेत्र के शासक" के रूप में किया गया है। यहां मिन का उल्लेख अत्यंत महत्वपूर्ण है। मिन प्राचीन मिस्र के ऐसे देवता थे, जिन्हें उर्वरता, प्रजनन, पुरुष शक्ति और यात्रियों के संरक्षक के रूप में पूजा जाता था। इस प्रकार यह शिलालेख न केवल धार्मिक आस्था को दर्शाता है, बल्कि यह भी संकेत देता है कि इस विजय को दैवीय संरक्षण के अंतर्गत वैध ठहराया गया। विद्वानों के अनुसार, इस प्रकार की शिलाकृतियां केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं होतीं, बल्कि वे एक प्रकार की 'राजनीतिक घोषणा' भी होती हैं। इस चट्टान पर उकेरा गया दृश्य संभवतः सिनाई क्षेत्र पर मिस्र के अधिकार की औपचारिक उद्घोषणा रहा होगा। उल्लेखनीय है कि बाद के काल में इस चित्र और शिलालेख के ऊपर नबातियन और अरबी लिपियों में लेख अंकित कर दिए गए, जिससे मूल विजेता शासक का नाम अस्पष्ट हो गया। इस खोज का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि अब तक वादी खामिला क्षेत्र को मुख्यतः नबातियन शिलालेखों के संदर्भ में ही जाना जाता था, जो इस खोज से लगभग 3,000 वर्ष बाद के हैं। ऐसे में यह नई खोज इस क्षेत्र के इतिहास को कहीं अधिक प्राचीन और जटिल बनाती है।

कला-इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि से यह शिलाकृति इस बात का सशक्त प्रमाण है कि प्रारंभिक मानव समाजों में भी सत्ता, संघर्ष और संसाधनों पर नियंत्रण की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह हमें यह भी समझाती है कि कला केवल सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सत्ता और भय के प्रदर्शन का माध्यम भी रही है। अंततः सिनाई की यह 5,000 वर्ष पुरानी शिलाकृति केवल एक पुरातात्विक खोज नहीं है, बल्कि मानव सभ्यता के उस पक्ष का सजीव दस्तावेज है, जिसमें विकास के साथ-साथ हिंसा, वर्चस्व और राजनीतिक आकांक्षाएं भी अंतर्निहित रही हैं। यह खोज हमें अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझने और मानव इतिहास के बहुआयामी स्वरूप पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करती है।